THE TIMES OF INDIA

Date: 01-03-17

Trust and verify

How simple changes in government functioning can make life easier for citizens

A group of senior bureaucrats tasked with studying urban issues have recommended governments move to a Trust and Verify approach in dealing with the most frequent needs of citizens. This initiative aims to upend the existing system of scrutiny ahead of approvals with one where approvals come first. A scrutiny is carried out subsequently. The essence is that citizens are trusted when it comes to high frequency engagements with city governments – such as building permissions, change of title in municipal records, and birth and death registrations. This proposal should be widely adopted as it will both curtail corruption and improve citizens' lives.

Governments have already begun moving towards an approach where it is assumed that an applicant is generally trustworthy. To illustrate, to ease doing business importers were allowed to self-certify, to be followed by a few random verifications. There is absolutely no reason why the same level of trust should not be extended to all citizens. More so when one of the biggest sources of petty corruption is the abuse of power by sections of lower bureaucracy.

An important strand of reform is streamlining procedures and bringing transparency in government decision making. India has taken well intentioned steps in this direction by trying out concepts such as Sevottam, a quality management system framework for some government services. NDA can further its promise of maximum governance, minimum government by persuading all city governments to adopt the Trust and Verify approach. Punitive punishments can be used to deter those who abuse the trust. In addition, advances in digital technology should be used to reduce the level of direct interface between citizens and governments. Simple changes to ways of functioning can produce far reaching results and make life easier for everyone

---

THE ECONOMIC TIMES

Date: 01-03-17

The right and wrong of free speech

The events at Ramjas College in Delhi University, the ensuing protests and the vicious trolling of a girl student Gurmehar Kaur, which saw Union minister Kiren Rijiju criticise Kaur rather than take on the trolls, all misconceive and truncate the right to freedom of speechTrue, the Constitution places reasonable restrictions on this freedom, on grounds of sovereignty and national integrity, security of the state, friendly relations with foreign states, public order, decency, defamation and incitement to an offence.Free speech is not meant only for those who agree with a dominant view; it matters most when it comes to unpopular, minority views. If those

who disagree with such views unleash violence, and create a threat to public order, what should the state do? Some Delhi policemen present when Ramjas College students were allegedly attacked by ABVP activists, who sensed a threat to Indian nationalism from a speaker, chose to take off their name tags and beat up Ramjas students.Minus such blatant partisanship, if the state merely used the public order proviso to gag the minority opinion, that would still fall short of defending the right to freedom of expression. That would only be an invitation for people to stage violence to muzzle opinion they disagree with. The country's courts are the final arbiters of when a restriction on free speech is warranted, but in a technical sense. It is the lived practice of democracy — with citizens actively defending free speech, even of the kind they disagree with — that will give substance to this and other fundamental rights.In this light, it is welcome that many students, teachers and others have come out against violent suppression of free speech and lent support to Gurmehar Kaur, including senior minister Ravi Shankar Prasad.

दैनिक भास्कर

Date: 01-03-17

क्यों अपराधी जीत जाते हैं, उदारवादी नहीं?

जब भीचुनाव आते हैं तो मैं यह सोचकर हताश हो जाता हूं कि हम सच्चे, स्वतंत्र और सुधार चाहने वाले उदार नागरिकों की बजाय फिर अपराधियों, लुभावने नारों वाले भ्रष्टों और राजनीतिक वंश के सदस्यों को चुन लेंगे। इस बार तमिलनाडु में शशिकला और अमेरिका में डोनाल्ड ट्रम्प की धक्कादायक जीत साफ-सुथरे उदारवादियों की नाकामी को रेखांकित करती है। इस समस्या के समाधान के लिए मैंने एक बार आदर्श उदारवादी राजनीतिक दल की हिमायत की थी। 21वीं सदी में युवा, अपेक्षाओं से भरा भारत ऐसी धर्मनिरपेक्ष पार्टी का हकदार है, जो आर्थिक नतीजों के लिए अधिकारियों की बजाय बाजार पर भरोसा करने के साथ सरकारी संस्थानों में शासन सुधार पर अपना ध्यान केंद्रित करती हो। संभव है कि इसे जल्दी चुनावी सफलता मिले लेकिन, यह शासन में सुधार का मुद्दा बहस के केंद्र में ले आएगी। यह धीरे-धीरे लोगों के सामने साबित कर देगी कि खुले बाजार और नियमों से संचालित सरकार ही जीवनस्तर ऊंचा उठाने और सबकी समृद्धि का एकमात्र समझदारी भरा रास्ता है। इसी आधार पर मेरे मित्र संजीव सभलोक ने 2013 में विशुद्ध रूप से उदारवादी 'स्वर्ण भारत पार्टी' बनाई लेकिन, इसे अभी व्यापक समर्थन नहीं मिला है। मुझे अपराध बोध महसूस होता है कि मैंने इसके लिए पर्याप्त योगदान नहीं दिया और मेरे उदारवादी मित्र इसमें शामिल हुए। जब मैं हमारी नाकामी पर विचार कर रहा था तो मैं चौंकाने वाले निष्कर्ष पर पहुंचा। मुझे अहसास हुआ कि उदारवादी सिद्धांतों पर आधारित पार्टी के जीतने के लगभग कोई अवसर नहीं हैं बर्शते यह किसी पहचान' आधारित पार्टी से गठबंधन नहीं करती।

रियायती बिजली और भोजन के लोक-लुभावन वादे करने वाला प्रत्याशी हमेशा उस उदारवादी को हरा देगा, जो निजी उद्यम और स्पर्द्धा की वकालत करता है। चुनाव में खुले बाजार को मतदाताओं के गले उतारना कठिन है, क्योंकि बाजार का 'अदृश्य हाथ' उन्हें दिखाई नहीं देता, जबकि सरकार का दिखने वाला हाथ और भी प्रखरता से दिखाई देने लगता है। किंतु 'वामपंथी उदारवादी' के सफल होने की संभावना अधिक है, क्योंकि वह सरकार के हस्तक्षेप से व्यापक कल्याणकारी राज्य की हिमायत करता है। इसीलिए वाम-उदारवादी कांग्रेस चुनाव के दौरान रियायतें बांटने पर ध्यान केंद्रित कर दशकों तक अपनी सत्ता कायम रख पाई। शास्त्रीय किस्म का उदारवाद आर्थिक स्वतंत्रता के वातावरण में हर किसी को ऊपर उठने का अवसर देता है। इस व्यवस्था में सरकार से ऐसा वातावरण उपलब्ध कराने की उम्मीद होती है, जिसमें कोई भी व्यक्ति खुले, पारदर्शी बाजार में शांतिपूर्वक अपने हितों की दिशा में बढ़ सके। इसके बाद 'अदृश्य हाथ' धीरे-धीरे चारों तरफ का जीवनस्तर ऊंचा उठाने में मदद करता है और लोगों को गरिमापूर्ण मध्यवर्गीय जिंदगी की ओर ले जाता है। 'अदृश्य हाथ' का यह जुमला एडम स्मिथ का है,

जो शास्त्रीय उदारवाद के संस्थापकों में से थे। वे मानते थे कि मुक्त बाजार में हर व्यक्ति अपने हित का पीछा करता है तो 'अदृश्य हाथ' समाज के साझा हित को साकार करता है। चूंकि वोटर यह नहीं समझ पाता कि कैसे बिज़नेस चलाने में सरकार की बजाय बाजार अच्छा है, शास्त्रीय किस्म के उदारवादी सांस्कृतिक सामाजिक पहचान वाली पार्टियों में शामिल हो गए। अमेरिका में वे 'लिबरल रिपब्लिकन' या 'कंज़र्वेटिव डेमोक्रेट' बन गए। किंतु उन्हें इसकी कीमत 'गर्भपात विरोधी' ईसाई एजेंडे तथा रिपब्लिकनों की गन लॉबी और डेमोक्रेटिक पार्टी के सख्त, अक्षम श्रम संगठन स्वीकार करने पड़े। ब्रिटेन में मार्गरेट थैचर को अपनी पार्टी (देश) को बाजार के हित में लाने के लिए टोरी के 'परम्परागत अंग्रेजियत' के आदर्श स्वीकारने पड़े। भारत में भी कई उदारवादी मोदी के 'विकास' एजेंडे का समर्थन करते हैं पर भाजपा की हिंदुत्ववादी सांस्कृतिकता से वास्ता नहीं रखते। 2014 के चुनाव में मोदी की चमत्कारी सफलता 'अधिकतम शासन, न्यूनतम सरकार' के उदारवादी आह्वान का ही नतीजा था, जिसने महत्वाकांक्षी युवाओं या कांग्रेस की लोक-लुभावन नीतियों से हताश लोगों को आकर्षित किया। इसका नतीजा यह हुआ कि उन्होंने भाजपा में आर्थिक उदारवादियों के लिए जगह बनाई और भाजपा परिपक्व होकर दक्षिणपंथी झुकाव वाली मध्यमार्गी पार्टी बन गई, जिसमें आर्थिक सांस्कृतिक दक्षिणपंथ का स्पष्ट विभाजन था। हालांकि, मोदी मार्गरेट थैचर की तरह आर्थिक सांस्थानिक सुधारों के लिए वैचारिक रूप से प्रतिबद्ध आदर्श उदारवादी नहीं हैं। वे व्यावहारिक आधार पर सुधार लाते हैं। अब भी यह कहना जल्दबाजी होगी कि मोदी 'विकास ' के वादे को पूरा करेंगे या नहीं लेकिन, यदि वे अपने उदारवादी समर्थक कायम रखना चाहते हैं, तो उन्हें अपने दल की सांस्कृतिक शाखा को कड़े नियंत्रण में रखना होगा। लेकिन लोग चुनाव में आपराधिक रिकॉर्ड वाले व्यक्ति को क्यों चुनते हैं? 2014 में चुने गए सांसदों में से एक-तिहाई के खिलाफ अापराधिक प्रकरण चल रहे हैं और बीस फीसदी सांसदों पर तो हत्या दुष्कर्म जैसे गंभीर आरोप लगे हैं। स्पष्ट है कि (543 में से) सौ से ज्यादा कानून निर्माताओं पर गंभीर आरोप दायर हैं। मिलन वैष्णव अपनी नई किताब 'व्हेन क्राइम पैज़' में लिखते हैं कि अपराधी चुनावों की आसमान छूती लागत उठाने और पार्टी कोष को भरने में बेहतर साबित होते हैं। मतदाता 'अपराधियों' को 'काम करा लेने' की काबिलियत के कारण उन्हें चुनते हैं। कानून-व्यवस्था से संबंधित शिकायतें निपटाने में पुलिस की बजाय 'अपराधी' सांसद ज्यादा प्रतिसाद देते हैं। मुझे दुख है कि किसी उदारवादी दल का तो भारत में, और कहीं भविष्य है। पिछली तीन सदियों तक उदारवाद ने ही न्यायोचित राजनीतिक कार्रवाई को संचालित किया है। 20वीं सदी में ज्यादातर राजनीतिक विमर्श इसी के हक में रहा। इसने भारत को औपनिवेशिक दासता से मुक्त कराया, साम्यवाद को धराशायी करने में इसी की भूमिका थी और भारत के आर्थिक सुधार भी इसी से संचालित हुए। किंतु उदारवादियों ने इन सुधारों का श्रेय नहीं लिया और इसीलिए हम चुपके से सुधार लाते रहे हैं। उदारवादी कोई संत नहीं हैं लेकिन, यह शर्म की बात है कि समृद्धि शासन के पक्ष में तर्कपूर्ण दलीलों की बजाय मतदाताओं के लिए नस्ल, धर्म और जातिगत पहचान के आधार पर की गई भावनात्मक अपील का महत्व ज्यादा है।

गुरचरण दास स्तंभकारऔर लेखक, (येलेखक के अपने विचार हैं।)

Date: 01-03-17

आधार कार्ड की जानकारी लीक होने का खतरा कायम

सरकार ने आधार कार्ड की जानकारी की सुरक्षा के बारे में रेगुलेशन तैयार कर लिया है और उसके दुरुपयोग पर तीन साल की सजा का प्रावधान भी करने जा रही है लेकिन, डेटा चोरी और उसके गलत इस्तेमाल का खतरा टला नहीं है। सबसे बड़ा खतरा बैंक खातों के बारे में है। अगर बैंक खातों से संबंधित आधार कार्ड का डेटा हैक हो गया तो किसी के भी खाते से धन निकासी को रोक पाना कठिन होगा। ऐसे में इसकी जिम्मेदारी बैंक लेगा या भारतीय विशिष्ट पहचान पत्र प्राधिकरण (यूआईडीएआई) यह स्पष्ट नहीं है। संभव है डेटा चोरी होने का मुकदमा दायर भी हो जाए लेकिन, असली सवाल यह है कि खातों से चोरी गए धन की भरपाई कौन करेगा?

हाल में एक्सिस बैंक से आधार का बायोमेट्रिक डेटा चोरी हो गया। इसके बाद प्राधिकरण ने एक्सिस बैंक के खातों के आधार पर लेन-देन बंद कर दिया था। यह एक नमूना है, जिसमें एहतियाती कदम उठा लिए गए लेकिन, जब आधार नंबर की संख्या 131 करोड़ तक पहुंच जाएगी और केंद्र व राज्य सरकार की सभी योजनाओं को इससे जोड़ दिया जाएगा तब डेटा सुरक्षा की रोजाना की चुनौती बड़ी हो जाएगी। चुनौती यह भी होगी कि जिन लोगों के आधार नंबर जारी नहीं हुए हैं उन्हें कैसे सरकारी योजनाओं की सुविधा मुहैया कराई जाए और जिनकी सुविधाएं आधार संख्या से जुड़ी हैं उनके डेटा को कैसे गोपनीय रखा जाए। आधार कार्ड का सारा कमाल बायोमेट्रिक डेटा यानी उंगलियों के निशानों और आंख की पुतलियों पर आधारित है। कई बार मनुष्य के काम और बीमारी के कारण उसकी अंगुलियों की छाप और पुतलियों की संरचना में बदलाव होता है व कम्प्यूटर व्यक्ति को पहचानने से इनकार भी कर देता है।

हैकिंग और सरकारी एजेंसियों द्वारा लोगों की जासूसी का खतरा व्यक्ति की संपत्ति और निजी स्वतंत्रता के अधिकारों से जुड़ा हुआ है। कानून बन रहा है कि आधार कार्ड से होने वाले कारोबार के डेटा को सात साल सुरक्षित रखा जाए ताकि विवाद होने पर उन्हें उपलब्ध कराया जा सके। सुरक्षा एजेंसियां भी डेटा तक तभी पहुंच सकेंगी जब जिला जज अनुमति दे और राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर डेटा तभी हासिल किया जा सकता है, जब संयुक्त सचिव स्तर का अधिकारी इजाजत दे। इनके बावजूद जाति, धर्म और विचारधारा के आधार पर काम करने वाली कार्यपालिका से भी दुरुपयोग के खतरे हैं और हर हाल में लाभ कमाने वाले चोरों से भी।

दैनिक जागरण

Date: 01-03-17

दक्षता की परख का तरीका

सरकार ने नेशनल टेस्टिंग सर्विस स्थापित करने का निर्णय लिया है। फिलहाल छात्र दो संकटों से जूझ रहे हैं। पहला संकट विभिन्न विश्वविद्यालयों और राज्य शिक्षा बोर्डों द्वारा दिए जाने वाले प्रमाणपत्रों की विश्वसनीयता से जुड़ा है। एक छात्र किसी विश्वविद्यालय से 50 प्रतिशत अंक प्राप्त करता है। वहीं एक अन्य छात्र दूसरे विश्वविद्यालय से 80 प्रतिशत अंक हासिल करता है। चूंकि प्रश्न पत्र आसान है या फिर नकल की सुविधा है ऐसे में लचर विश्वविद्यालय के अच्छे छात्र की तरक्की के रास्ते बंद हो जाते हैं, क्योंकि बाजार में उसकी डिग्री की विश्वसनीयता नहीं रह पाती। दूसरा संकट निजी विश्वविद्यालयों का है जहां शिक्षा का स्तर खराब होने से डिग्री भी घटिया दी जाती है जबकि छात्रों से ये भारी शुल्क वसूलते हैं। साथ ही छात्रों को इन विश्वविद्यालयों द्वारा दी जा रही डिग्रियों की सत्यता का भी भान नहीं होता। वह दाखिला ले लेता है और पास भी हो जाता है, लेकिन प्लेसमेंट यानी नौकरी हासिल करने में नाकाम रहता है। इन दोनों संकटों का समाधान नेशनल टेस्टिंग सर्विस के माध्यम से निकल सकता है।

इस संस्था द्वारा पूरे देश में एक ही स्तर की परीक्षा ली जाएगी। देश के सभी विश्वविद्यालयों के स्नातक इस परीक्षा में भाग ले सकेंगे। मेरे एक जानकार ने कानपुर विश्वविद्यालय से बीएससी की डिग्री हासिल की। उन्होंने मन बनाया कि आगे की पढ़ाई के लिए वे अमेरिका जाएंगे, मगर अमेरिकी विश्वविद्यालय के लिए उस डिग्री का आकलन करना कठिन था। लिहाजा उन्हें अमेरिका में एजुकेशनल टेस्टिंग सर्विस की परीक्षा में बैठने के लिए कहा गया। इसमें उत्तीर्ण होने के बाद ही वह अमेरिकी विश्वविद्यालय में प्रवेश ले सके। ऐसा इसलिए संभव हुआ, क्योंकि अमेरिकी विश्वविद्यालय को अपनी परीक्षा की गुणवत्ता पर भरोसा था। भारत में भी इसे अपनाया जा सकता है ताकि विभिन्न विश्वविद्यालयों के छात्र एक ही परीक्षा के माध्यम से अपनी क्षमताओं का प्रमाणपत्र ले सकें। किसी निजी विश्वविद्यालय में दाखिले की तैयारी का उत्सुक छात्र देख

सकेगा कि उक्त परीक्षा में विश्वविद्यालय ने कैसा प्रदर्शन किया? ऐसे में वह विश्वविद्यालय के दावों से भ्रमित नहीं होगा। शिक्षा के बढ़ते निजीकरण से हो रही गड़बड़ियों से इस पर अंकुश लगेगा, मगर इस एकल परीक्षा में भी दूसरे संकट विद्यमान हैं। प्रस्तावित नेशनल टेस्टिंग सर्विस का ढांचा भी अमेरिका की एजुकेशनल टेस्टिंग सर्विस की तर्ज पर ही बनाने की योजना है। अमेरिका के वेस्ट वर्जिनिया विश्वविद्यालय ने एजुकेशनल टेस्टिंग सर्विस के बारे में कहा है, 'मौजूदा निष्प्रभावी सत्यापन व्यवस्था के कारण शैक्षिक खर्च बढ़ गए हैं और आविष्कार दब गए हैं।' शोधकर्ताओं का कहना है कि समूची शिक्षा व्यवस्था का पूरा ध्यान एजुकेशनल टेस्टिंग सर्विस परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त करना रह गया है। शिक्षा में नई सोच एवं लचीलेपन का अभाव हो गया है।

लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में हर साल छात्रों द्वारा संस्थान को एक मांग पत्र दिया जाता है। छात्रों की प्रमुख मांग थी कि परीक्षा संस्कृति को ही समाप्त किया जाए, क्योंकि इससे स्वतंत्र चिंतन बाधित हो रहा है। मेरे आकलन में यह समस्या उच्च शिक्षण संस्थाओं में ज्यादा प्रभावी है। सामान्य छात्र के लिए स्वतंत्र चिंतन से ज्यादा महत्वपूर्ण है कि उसकी शिक्षा और क्षमता का सच्चा प्रमाणीकरण हो। उच्च श्रेणी के छात्रों के लिये संभव होना चाहिए कि परीक्षा में अच्छे अंकों के साथ वे स्वतंत्र चिंतन को तरजीह दें। इसका समाधान प्रश्नों के आकार से निकल सकता है। उच्च शिक्षण संस्थाओं में अक्सर 'टेक होम' परीक्षा ली जाती है। छात्रों को प्रश्न पत्र घर ले जाकर हल करने के लिए दिए जाते हैं। उन्हें छूट होती है कि वे किताबों, इंटरनेट या किसी अन्य मदद से उन्हें हल करें। मसलन पूछा जा सकता है कि 'यदि भारत के उत्तर में हिमालय पर्वत न होता तो भारत की राजनीति कैसी होती?'

ऐसे प्रश्नों का उत्तर किसी पुस्तक में नहीं मिल सकता है। ऐसे प्रश्नों के माध्यम से छात्र की चिंतन शक्ति का मूल्यांकन किया जा सकता है। इस समस्या का दूसरा समाधान अंकों के साथ-साथ 'परसेंटाइल' के रूप में परिणाम देने से निकल सकता है। जैसे किसी परीक्षा में एक लाख छात्रों ने भाग लिया तो उन्हें परसेंटाइल के जरिये परिणाम बताया जाए। इससे छात्र की क्षमता का तुलनात्मक मूल्यांकन हो जाता है और यह गौण हो जाता कि उसने कितने अंक हासिल किए हैं। प्रस्तावित नेशनल टेस्टिंग सर्विस में दूसरी समस्या पाठ्यक्रमों की विविधता की है। एक छात्र ने इतिहास पढ़ा है तो दूसरे ने रसायनशास्त्र। दोनों को एक ही परीक्षा में कैसे बिठाया जाए? तार्किक प्रश्नों के जरिये इसका समाधान निकाला जा सकता है। ऐसे प्रश्न पूछे जा सकते हैं जो किसी विशेष पाठ्यक्रम से नहीं जुड़े हों।

आइआइएम के कॉमन एडमिशन टेस्ट में छात्रों की ऐसे ही परीक्षा ली जाती है। परीक्षा से छात्र की चिंतन शक्ति का मूल्यांकन किया जाता है न कि उसकी किताबी जानकारियों का। प्रस्तावित व्यवस्था में तीसरी समस्या नौकरशाही एवं जड़ता की है। देश में विश्वविद्यालयों की खस्ता हालत के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग यानी यूजीसी भी कम जिम्मेदार नहीं है। आयोग ने शिक्षकों की क्षमता का मूल्यांकन, पाठ्यक्रम में नवीनता, नए चिंतन इत्यादि पर ध्यान नहीं दिया है। प्रस्तावित नेशनल टेस्टिंग सर्विस में भी ऐसी ही जड़ता के प्रवेश करने की पूरी आशंका है। वेस्ट वर्जिनिया विश्वविद्यालय के जिस शोध का ऊपर हवाला दिया गया है उसने अमेरिकी प्रणाली के बारे में कहा है कि इसे लेकर एक कार्टेल यानी खेमा बन गया है जो यथास्थिति कायम रखना चाहता है। भारत में भी इसकी पुनरावृत्ति हो सकती है।

प्रस्तावित संस्था ने यदि अपेक्षाओं के अनुरूप काम नहीं किया तो परिणाम और भी घातक हो सकते हैं। हमारे विश्वविद्यालय तो पहले से ही लचर हैं। ऐसे में अगर नेशनल टेस्टिंग सर्विस भी उसी तरह रटंत विद्या को ही वरीयता देगी तो छात्रों का बौद्धिक विकास और ज्यादा प्रभावित होगा। वर्तमान में एकल परीक्षा न होने के कारण कुछ विश्वविद्यालय अपने स्तर पर बेहतर काम कर रहे हैं। नई व्यवस्था के बाद उन्हें भी रटंत विद्या के आगे ही घुटने टेकने होंगे। इस समस्या का समाधान आसान नहीं है

। जहां एकल परीक्षा व्यवस्था की जरूरत है तो दूसरी तरफ इसके पतन का संकट है। एक समाधान यह हो सकता है कि एक के स्थान पर तीन या चार समांतर टेस्टिंग व्यवस्था बनाई जाएं। आज देशों की अर्थव्यवस्था की रेटिंग फिच, मूडीज, स्टैंडर्ड एंड पुअर्स जैसी कई स्वतंत्र संस्थाओं

द्वारा समांतर प्रक्रिया में किया जाता है। लिहाजा एक के स्थान पर तीन या चार समांतर नेशनल टेस्टिंग सर्विस बनाई जा सकती हैं। सरकार स्वयं इन्हें स्थापित करने के स्थान पर निजी संस्थाओं को इन्हें स्थापित करने के लिये धन मुहैया करा सकती है। तब छात्र स्वतंत्र होंगे कि इनमें से किसका प्रमाण पत्र वे हासिल करना चाहते हैं। एक व्यवस्था जड़ हो गई तो दूसरी देश को डूबने से बचा सकेगी। इन रक्षात्मक कदमों के साथ नेशनल टेस्टिंग सर्विस को स्थापित करना चाहिए।

[लेखक आर्थिक मामलों के विशेषज्ञ एवं आइआइएम बेंगलुरु के पूर्व प्रोफेसर हैं]

जनसत्ता

Date: 28-02-17

विरोध का तरीका

किसी मसले पर लोगों में मतभेद हो सकता है, पर जिस तरह दिल्ली विश्वविद्यालय के रामजस कॉलेज की घटना पर कुछ लोग अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहे हैं, उसे किसी भी रूप में लोकतांत्रिक नहीं कहा जा सकता। छात्र संगठनों के वाम और दक्षिण धड़े के बीच हिंसक झड़प के बाद देश भर के विद्यार्थियों में रोष है। अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद के छात्रों ने अपना विरोध जाहिर करने के लिए जिस तरह हिंसा का रास्ता अपनाया उसकी चौतरफा निंदा हो रही है। इसी क्रम में दिल्ली विश्वविद्यालय की एक छात्रा ने फेसबुक पर परिषद की निंदा की, जिसे लेकर निहायत अश्लील और धमकी भरे संदेश आने लगे।

फिर उस छात्रा ने प्रतिक्रिया में कहा कि उसे अपनी देशभक्ति साबित करने के लिए प्रमाण की जरूरत नहीं है, क्योंकि उसके पिता देश की रक्षा करते हुए मारे गए। इस पर भाजपा के कुछ नेताओं, क्रिकेटर वीरेंद्र सहवाग और फिल्म अभिनेता रणदीप हुड्डा ने उसका मखौल उड़ाते हुए यह साबित करने की कोशिश की कि वह छात्रा किन्हीं और के इशारों पर विरोध कर रही है।यह सब कुछ जिस भाषा में और जिस तरीके से हो रहा है, वह किसी स्वस्थ और जिम्मेदार समाज की निशानी नहीं कहा जा सकता। छिपी बात नहीं है कि पिछले कुछ दशक से छात्र राजनीति मुख्यधारा की राजनीति से संचालित-पोषित होती आ रही है। इस तरह परिसरों में वैचारिक असहिष्णुता का माहौल बना है।

उनमें हिंसक झड़पें आम हो चली हैं। यही वजह है कि छात्र राजनीति में स्वस्थ परंपरा विकसित करने पर काफी समय से जोर दिया जा रहा है। मगर जब भी विद्यार्थियों में ऐसी हिंसक भिडंत की कोई घटना होती है, मुख्यधारा के राजनीतिक दल अपने-अपने आनुषंगिक छात्र संगठनों के बचाव में उतर आते हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय की घटना के बाद भी वही हो रहा है। मगर पिछले कुछ सालों में जिस तरह देशभक्ति के नाम पर अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद उग्र तेवर अख्तियार करता देखा जा रहा है और उसके बचाव में लोकतांत्रिक मर्यादा की परवाह किए बगैर भारतीय जनता पार्टी और उसके आनुषंगिक संगठनों के लोग बयान देते रहते हैं, वैसा पहले कभी नहीं हुआ।

उस छात्रा के विरोध पर समाज, राजनीति, खेल और सिनेमा के कुछ लोगों के मैदान में उतर आने और भाषा की शालीनता का भी खयाल न रखने से मामले की हकीकत पर परदा नहीं डाला जा सकता, बेशक लोकतांत्रिक मर्यादा भंग हो रही है। समाज के जिम्मेदार नागरिक और खासतौर पर जानी-मानी हस्ती होने के नाते वीरेंद्र सहवाग और रणदीप हुड्डा जैसे लोगों से अपेक्षा की जाती है कि ऐसे मसलों पर तार्किक बयान दें, पर उन्होंने एक गंभीर मसले को हल्के में लेने की कोशिश की। मसला यह है कि आखिर देशभक्ति के नाम पर किन बातों की छूट ली जा सकती है, राष्ट्रवाद के नाम पर किसी को अपनी बात कहने से रोक देना कहां तक उचित है। शील, मर्यादा और अनुशासन का घोष करने

वाली अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद ने परिसर में अभिव्यक्ति की आजादी को जगह न देते हुए हिंसक बर्ताव किया, उस पर कोई बात करने के बजाय उसका विरोध करने वाली छात्रा पर अश्लील टिप्पणियां करना और उसकी मंशा को ही संदेह के घेरे में ला देना भला कहां की नैतिकता है। विचित्र है कि देशभक्ति के नाम पर बार-बार सेना को महिमामंडित करने वाले दल के नेता एक शहीद की बेटी के इरादे को प्रश्नांकित कर रहे हैं

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 28-02-17

Dangerous student

Surely, nation's sovereignty isn't undermined by a 20-year-old?

Trolls will be trolls but why are senior voices in the government talking as if a placard threatens national security?

Gurmehar Kaur has broken no laws. Nor has she slandered any individual on a public platform. The 20-year-old student of English literature at Lady Shri Ram College, Delhi University is the daughter of late Captain Mandeep Singh, who fell fighting militancy in Jammu and Kashmir. Kaur started a social media campaign after the violence in Ramjas College on February 22. The campaign began with Kaur changing her Facebook profile picture to her holding a placard that read: "I am a student of Delhi University and I am not afraid of ABVP." For her post, she has received graphic threats on social media, the more innocuous among which include "a fate worse than Nirbhaya (the December 2012 gangrape and murder victim)", advice to "just die" and been called "worse than Hitler". That trolls, anonymous like most trolls are, verbally assault and intimidate a young woman isn't surprising.What is appalling, however, is how some of the most powerful and influential men in the country, a parliamentarian, a Union minister and even a cricketer and actor, have expressed their disapproval of what she has said, likened her to terrorists, ridiculed her views and refused her agency. But no one mentioned one word defending what's her Constitutional right or condemned the threat that she faces.

Soon after Kaur's post on social media, BJP MP Pratap Simha compared her to Dawood Ibrahim saying "at least Dawood didn't use his father's name to justify his anti-national stand". Simha's reaction was to a post by Kaur from May last year, where she made a case for peace with Pakistan. Rather than condemning his party colleague's vicious jibe, Union Minister of State for Home Kiren Rijiju tweeted asking, "Who is polluting this young girl's mind?" A part of Rijiju's responsibility is to ensure law and order, to protect the rights of citizens, even when he disagrees with them. Instead of questioning Kaur's agency and motives, the minister should reassure her that the government will protect her right to free expression. Equally, he should be as vocal in his condemnation of those who have threatened a young woman with assault and death. Union minister M. Venkaiah Naidu has scented a plot to lead young minds astray.More sophisticated is Finance Minister Arun Jaitley. Speaking at the London School of Economics, Jaitley called for a debate on the limits of free speech and whether the right extended to an "assault on the very sovereignty of the nation". Jaitley himself was a symbol of dissidence and free speech in the face of a government that was clamping down on opposition during the Emergency. As a student leader, he refused to acquiesce to the government of the day, stood up for his principles and went to prison. He must now remember that legacy and condemn a discourse that allows threats to the life of Gurmehar Kaur and others like her. It's not going to be easy given his government and party's constant resort to nationalism to silence all argument. That doesn't behove a government that prides itself on its strength. And, surely, the nation's sovereignty isn't undermined by a 20-year-old college student?

THE HINDU

Date: 28-02-17

NOTA and the Indian voter

The perceived cynicism of voters against the political class seems exaggerated

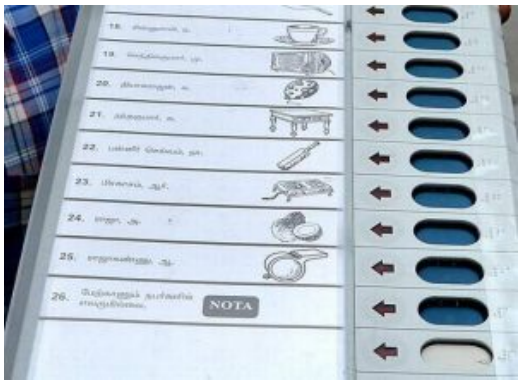

Three years, one Lok Sabha election and four rounds of Assembly elections have passed since the introduction of 'None of The Above' (NOTA) option in the Indian electoral system. The 2016 Assembly elections also saw some active canvassing for NOTA, which allows voters to express their dissent against all the contestants. In Kerala, a group of women activists hit the road urging people not to elect any candidate if no woman was present in the fray. In Tamil Nadu, a youth group campaigned for NOTA as a protest vote against corruption.

The patterns

NOTA polling figures are still small. On an average, the maximum NOTA vote share has not crossed 2.02% of the total votes polled in any election cycle. The perceived cynicism of Indian voters against the political class thus seems exaggerated. However, it is worthwhile to look at the patterns of NOTA voting to find out how the voters have used this option of negative voting.NOTA was introduced in India following the 2013 Supreme Court directive in the *People's Union for Civil Liberties v. Union of India* judgment. Thus, India became the 14th country to institute negative voting. However, NOTA in India does not provide for a 'right to reject'. The candidate with the maximum votes wins the election irrespective of the number of NOTA votes polled.

NOTA button saw its debut in the 2013 Assembly elections held in four States — Chhattisgarh, Mizoram, Rajasthan and Madhya Pradesh and the former Union Territory, Delhi. In these States and Delhi, NOTA constituted 1.85% of the total votes polled. The average NOTA vote share dropped to 0.95% in the 2014 Assembly elections held in eight States — Haryana, Jharkhand, Andhra Pradesh, Sikkim, Odisha, Arunachal Pradesh, Jammu & Kashmir and Maharashtra. It increased to 2.02% in the 2015 Assembly elections held in Delhi and Bihar. While Delhi polled a mere 0.40%, Bihar saw 2.49% of NOTA votes, which remains the highest NOTA votes polled so far in any State in Assembly elections. In the 2016 Assembly elections held in Assam, West Bengal, Kerala, Puducherry and Tamil Nadu, NOTA vote share dropped again to 1.6%. In the 2014 Lok Sabha polls, NOTA constituted 1.1% of the total votes.Across the elections, the number of NOTA votes polled was larger than the winning margin in 261 Assembly constituencies which went to the polls since 2013, and in 24 constituencies in the Lok Sabha elections. One can argue that in these constituencies the NOTA votes did make a difference to the election results assuming that in the absence of this option a majority of NOTA voters would have preferred one or the other candidate in the fray.

Some early pointers

A quick analysis of NOTA usage in all elections so far does suggest some interesting early pointers. First, reserved constituencies have seen a relatively larger number of NOTA votes, which points to the continued social prejudice against political reservation for SC/STs. Second, constituencies affected by left-wing extremism have also recorded higher NOTA performance and here probably it served as an instrument of protest against the State itself. The Assembly constituencies of Gadchiroli, Jhargram, Kalyan Rural, Jagannathpur, Chatra, Umarkote and Chhattarpur figured in the list of top NOTA polling constituencies in the Assembly elections of 2014, while in the Lok Sabha elections, Bastar, the Nilgiris and Nabarangpur occupy three top slots in terms of NOTA votes polled. Given the disaffection among the people in these areas against the Indian state, these numbers are expected. At the same time, it is important to note that these voters have used the democratic means of NOTA to express their resentment rather than boycotting the polls outright. Last, NOTA figures are comparatively higher in those constituencies which have seen a direct contest between the Congress and the Bharatiya Janata Party. One may read into this some indication of the people's disenchantment with two mainstream political parties and yearning for alternatives. Overall, Indian voters seem to be using NOTA not just to show their disapproval of the candidates in the fray but to express their protest against many things they perceive wrong in the political system.

The early trends of NOTA need to be explored further with more elaborate statistical and ethnographic analysis. So far, a small number of Indian voters have come to see NOTA as an instrument of protest. This electoral option will become a meaningful means of negative voting only if it becomes a 'right to reject' rather than being a symbolic instrument to express resentment as it is now. A PIL has already been filed in Madras High Court seeking the full right to reject in place of NOTA.

V.R. Vachana and Maya Roy have recently completed their post-graduation from Azim Premji University, Bengaluru and are working as researchers

---

Date: 28-02-17

Seeing the light

The WTO dispute that India lost over solar power and the one that it has now filed against the U.S. are similar. It is best for both countries to find an amicable solution

India and the U.S. have been filing a number of disputes against each other, challenging the other's domestic content requirement in the renewable energy sector. The last was in September 2016 when India requested consultations with the U.S. under the dispute settlement system regarding alleged domestic content requirements and subsidies provided by eight U.S. states. This request came three days after India lost the case brought by the U.S. India in the present case claims that California, Connecticut, Delaware, Massachusetts, Michigan, Minnesota, Montana and Washington are providing renewable energy subsidies similar to those of the domestic content requirement under the Jawaharlal Nehru National Solar Mission (JNNSM), which, the U.S. claims, violates World Trade Organisation (WTO) law.

India alleges that these states have been granting subsidies to local manufacturers in the renewable energy industry along with the requirement that the products be made domestically. As India lost the case filed by the U.S. at the WTO, critics claim that the present case has been filed by India as a reciprocation. India seems to be charging the U.S. of the same issues in the same field to leverage a settlement in the case that it lost.

The WTO ruling

JNNSM required that 20 gigawatt (GW) of solar power should be generated from domestically produced modules or solar cells. The WTO found that the mandatory domestic content requirement under JNNSM violated the National Treatment provision of Article III:4 of the WTO agreement. The Indian government has significantly reduced the domestic content requirement after the initiation of proceedings at the WTO. At the beginning of the mission, the domestic content requirement in the auctioned contracts was as much as 50% of the total output generating capacity. This value dropped significantly through the auctions and is currently down to 5%. The U.S. is still unsatisfied with the measures undertaken by the government.

Before the final judgment was delivered by the WTO, there was a lot of chatter about the case being settled by the two governments. Assurances were given by high-ranking officials from both nations that a settlement would be reached. The Indian government also offered to restrict the domestic content requirement to government-owned companies, saying that only public sector undertakings would be mandated to use domestically produced modules.

After the WTO ruling was delivered, India asked the U.S. not to implement it. Under WTO law, the complainant can give 15 months to the defendant to implement the ruling. If 15 months were provided, India would be able to complete the JNNSM without having to painstakingly restructure the entire mission. After the 15-month period, the ruling would be applicable.However, nothing meaningful came from from these negotiations. The Indian government then announced that it had decided to file many cases against the U.S. because eight of the latter's states had domestic content requirements in the renewable energy sector. Few imagined that India would pursue the dispute and ask the WTO to establish a panel.The decision to not pursue the formation of a WTO dispute resolution panel came after Indian officials met the transition team of U.S. President Donald Trump and were assured that a settlement would be reached. It was decided that the cases would not be pursued further and that the Trump administration would seriously consider the settlement once in office.

The request for the establishment of a panel came on January 24, 2017. The reasons stated by India include that the eight U.S. states were giving "performance-based incentives" for generating renewable energy. These incentives were contingent on the fact that domestically produced goods were being used and were given to offset the investment cost. India claims that this violates Article III:4 because the measures provide less favourable treatment to imported products than domestically produced goods.

Even though India has requested establishment of the panel, is it still possible that an amicable solution may be found. However, with the new Trump administration and its 'America First' policy, there is a good chance that the panel will be established and the case argued before the WTO. This would affect relations between the U.S. and India. Both the cases are in fact the same, so it would be in the best interest of both nations to settle it.

Armin Rosencranz is professor of law at Jindal Global Law School. Aditya Vora is a third-year law student there.

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 28-02-17

सिर्फ फास्टट्रैक से नहीं मिलेगा त्वरित न्याय

गाजियाबाद के भोजपुर फर्जी मुठभेड़ कांड में पूरे 20 साल बाद अदालत का फैसला आया। इस कांड में पुलिस ने 20 से 24 साल के चार निर्दोष युवकों की भोजपुर गांव के खेतों में केवल इसलिए हत्या कर दी थी, ताकि पुलिस वालों को आउट ऑफ टर्न प्रमोशन मिल सके। जिन परिवारों ने इन नौजवानों को खोया है, उनकी मानसिक वेदना और आक्रोश कल्पना से परे है। दिक्कत यह भी है कि पूरे 20 साल न्याय का इंतजार करना पड़ा और इस बीच उन्हें अपनी जमीन और घर तक बेचने पड़े, जबकि इस प्रकार के मामलों में नि:शुल्क न्याय दिलाने की जिम्मेदारी सरकार की होती है। इस बीच एक युवक के पिता और दूसरे की मां की मृत्यु हो गई। फिर मुकदमे के दौरान सबूतों से छेड़छाड़ तथा मृतकों के परिवारजनों को पैसे के लालच देने और डराने-धमकाने तक की कोशिशें हुईं। आरोपी पुलिस की नौकरी में थे और जमानत पर छूटे हुए थे। न्याय में देरी का यह कोई अकेला मुकदमा नहीं है। अभी कुछ दिनों पहले 2005 में दिल्ली में हुए बम धमाके के मामले में फैसला पूरे 12 साल बाद आया। इसमें वे दो नौजवान बरी कर दिए गए, जो 12 साल से जेल में थे। उनकी जिंदगी का एक बड़ा और महत्वपूर्ण हिस्सा सालाखों के पीछे ही बर्बाद हो गया। ऐसे न जाने कितने उदाहरण दिए जा सकते हैं।

न्याय मिलने में देरी के कारण ढेर सारे हैं। अक्सर यह देरी अभियोजन पक्ष या बचाव पक्ष द्वारा अपना काम ठीक से न करने की वजह से होती है। आपराधिक मुकदमों में कई बार राजनीतिक उद्देश्यों जैसे सांप्रदायिक तुष्टिकरण, वोट बैंक समीकरण या किसी महत्वपूर्ण राजनीतिज्ञ की संलिप्तता वगैरह के कारण जांच एजेंसियां अपना काम स्वतंत्रत ढंग से नहीं कर पाती हैं, क्योंकि ये एजेंसियां स्वतंत्र नहीं, खुद सरकार का हिस्सा होती हैं। सत्ता के दबाव में पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाकर इस प्रकार के मामलों को ये इसलिए लंबा खींचती हैं, जिससे साक्ष्य नष्ट हो जाएं और गवाह भी थककर अपना पक्ष छोड़ दे। इससे देरी तो होती ही है, न्याय भी नहीं मिल पाता। बेशक इसकी वजह देश के कुछ कानून और न्यायिक व्यवस्था भी हैं। इसीलिए राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी ने देश में न्यायिक सुधारों की आवश्यकता पर जोर दिया है। उन्होंने कहा है कि न्यायिक सुधारों पर हम सबको मिलकर न सिर्फ सोचना होगा, बल्कि काम भी करना होगा। बिना पीठ बनाए और पर्याप्त आधारभूत सुविधाओं के हमारी ओर से किए गए कोई भी सुधार व्यर्थ साबित होंगे।

हालांकि, पिछले कुछ समय में शीघ्र न्याय की दिशा में कुछ प्रयास हुए हैं, जैसे फास्टट्रैक अदालतों का गठन तथा लोक अदालत इत्यादि की स्थापना, लेकिन ये प्रयास नाकाफी साबित हो रहे हैं। यह ऐसा मामला है, जिसके लिए केंद्र व राज्य सरकारों को मिलकर प्रयास करने होंगे। हमारा मौजूदा कानून 19वीं सदी का, अंग्रेजों का कानून है, जो गुलाम भारत के लिए बनाया गया था तथा यह पुरानी तकनीक को ध्यान में रखकर बनाया गया था। इसलिए सर्वप्रथम कानून की किताबों में आज की जरूरत के हिसाब से बदलाव करने के लिए शीघ्र प्रयास किए जाने चाहिए। इसके अलावा, केंद्र सरकार को उच्चतम और उच्च न्यायालयों पर मुकदमों के बोझ को देखते हुए अतिरिक्त जजों की नियुक्ति करनी चाहिए। साथ ही देश के उच्चतम, राज्यों के उच्च और जिला व तहसील न्यायालयों में न्याय में सहायक कर्मचारियों को और दक्ष बनाने के लिए बेहतर प्रशिक्षण व तकनीकी ज्ञान दिया जाना चाहिए।

कुछ मामलों के लिए फास्टट्रैक तथा लोक अदालतों का गठन किया गया है, पर अब व्यापक स्तर पर इनको और बढ़ावा देकर इनकी संख्या बढ़ाई जानी चाहिए। साथ ही, न्याय प्रक्रिया के जरूरी पक्ष अपराधों की जांच व अभियोजन को पुलिस से अलग करके स्वतंत्र संस्था के आधीन किया जाना चाहिए, जैसा कि पुलिस सुधारों की मांग है। इससे सत्ता के दबाव में जांच तथा अभियोजन प्रभावित न हो सकेगा, जिसके कारण

अक्सर कानूनी प्रक्रिया में देरी तथा न्याय में देरी देखी गई है। कमजोर न्याय व्यवस्था से देश न तो मजबूत आर्थिक ताकत ही बन पाएगा और न ही विश्व शक्ति। इसके लिए हमें उतनी ही पक्की व्यवस्थाएं चाहिए, जितनी दुनिया की महाशक्तियों के पास होती हैं।

शिवदान सिंह/ रिटायर्ड कर्नल,(ये लेखक के अपने विचार हैं)

Date: 28-02-17

यह सूरत बदलनी चाहिए

पिछले दस दिनों के दौरान ताबड़तोड़ आत्मघाती हमलों में पाकिस्तान के अलग-अलग शहरों में सौ से अधिक नागरिक मारे गए और प्रतिशोध में पगलाई पाक सेना ने इससे कहीं अधिक नागरिकों को दहशतगर्द कहकर मार डाला। मरने वालों में 80 के करीब वे सूफी श्रद्धालु थे, जो कराची से 284 किलोमीटर दूर सहवन कस्बे में सूफी संत लाल शाहबाज कलंदर के मजार पर धमाल कर रहे थे। धमाल ट्रांस या सम्मोहन की उस स्थिति को कहते हैं, जिसमें कोई मनुष्य स्व को पूरी तरह भूलकर परमानंद का अनुभव करता है। इस खबर को पढ़ते समय मुझे 2006 के दिसंबर की वह सर्द रात याद आई, जब साहित्यकारों और संस्कृतिकर्मियों के एक शिष्टमंडल के सदस्य के रूप में मैंने लाल शाहबाज कलंदर के मजार पर यह धमाल देखा था और मेरा नास्तिक मन भी विचलित हो उठा था। वहां जाकर पता चला कि इस मजार पर मुसलमानों और हिंदुओं की साझी आस्था है। मजार अतीत में शैव परंपरा से जुड़ा था और आज भी एक हिंदू परिवार इसके प्रबंधन का महत्वपूर्ण अंग है। हिंदू शाहबाज कलंदर को सिंधी हिंदुओं के आराध्य सूफी संत झूले-लाल से जोड़कर देखते हैं।

सूफी मजारों पर हो रहे हमले सलाफी व सूफी इस्लाम के बीच कई शताब्दियों से जारी संघर्ष का नतीजा हैं। सलाफी या वहाबी इस्लाम मजारों और दरगाहों पर चादर चढ़ाने, कव्वाली या धमाल को गैर-इस्लामी रवायत मानता है और इनको बलपूर्वक रोकना चाहता है। पाकिस्तान की इस समस्या की जड़ ही वे मदरसे हैं, जो अरब मुल्कों के पैसों के बल पर कट्टरपंथी सोच पैदा करते हैं और यही सोच खुदकुश हमलावर तैयार करती है।

मेरी समझ है कि किसी भी दर्शन में अगर अपनी मूल स्थापनाओं से टकराने की हिम्मत और सलाहियत न हो, तो वह जड़ हो जाता है। हमारे समय का सबसे मजबूत दर्शन इस्लाम दुर्भाग्य से इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता। शुरुआती वर्षों में इस्लाम में इज्तिहाद या आंतरिक विमर्श की परंपरा थी, जिसमें उलमा धार्मिक और दुनियावी मुद्दों पर बहस-मुबाहिसा करते थे। अब यह परंपरा समाप्त हो चली है और ऐसे किसी प्रयास को कुफ्र घोषित किया जा सकता है। अमेरिका और उसके हमख्याल पश्चिम से मुस्लिम उम्मा के संबंध बड़े दिलचस्प रहे हैं। एक तरफ तो वे उसके सबसे बड़े दुश्मन हैं और दूसरी तरफ मुल्ला-मौलवी से लेकर साधारण मुसलमान के लिए सबसे बड़ा सपना इन देशों का वीजा हासिल करना होता है। यह तथ्य किसी शून्य से नहीं उपजा है कि सारे मुस्लिम शरणार्थी अमेरिका या यूरोप जाना चाहते हैं। मेरा मानना है कि अगर उन्हें सऊदी अरब या ईरान जैसे मुल्क शरण देने के लिए तैयार हों, तब भी वे अमेरिका जाना चाहेंगे। अपने समाज में जिस लोकतंत्र का वे निषेध करते हैं, उसी का दुर्निवार आकर्षण उन्हें पश्चिम ले जाता है।

भारी-भरकम अकादमिक पदावलियों से बचते हुए अगर पश्चिम के प्रति आकर्षण के लिए किसी एक कारण को तलाशा जाए, तो कह सकते हैं कि यह उनकी जीवन-पद्धति का अंग बन चुकी खास तरह की उदारता है, जो अपने विरोधी को भी स्पेस देती है। यह उदारता मैग्ना कार्टा और फ्रांसीसी क्रांति से होती हुई 'रेनेसां' और औद्योगिक क्रांति तक की यात्रा से आई है। इसी से पश्चिमी समाज के वे अंतर्विरोध उत्पन्न हुए हैं, जिन्होंने एक तरफ तो उसे भयानक खुदगर्ज, लुटेरा और हिंसक बनाया है, तो दूसरी तरफ उसमें अद्भुत उदारता और मानवाधिकारों की

पक्षधरता भी भरी है।इस्लामी विद्वानों को सबसे गंभीर बहस इस बात पर करनी चाहिए कि क्यों उनके मजहब का झगड़ा दुनिया के दूसरे सभी धर्मों से चलता रहता है? बहुधार्मिक और बहुसांस्कृतिक समाज में शांतिपूर्वक रहना एक लंबे प्रशिक्षण की मांग करता है। क्या इस्लाम अपने अनुयाइयों को इसके लिए तैयार करता है? यह तो कोई पागल ही मानेगा कि पूरी दुनिया गलत है और वे ही सही हैं। उन्हें अपने गिरेबान में झांककर देखना चाहिए कि क्या उनके समाजों में ईसाइयों, यहूदियों, हिंदुओं और दूसरे धर्मावलंबियों को वही अधिकार हासिल हैं, जो वे अपने लिए अमेरिका, यूरोप या भारत में चाहते हैं? मिस्र, तुर्की, मलेशिया या इंडोनेशिया जैसे अपेक्षाकृत उदार राष्ट्रों में भी गैर-मुस्लिम भेदभाव के शिकार हैं। क्या 21वीं शताब्दी में मुसलमानों के बीच यह बहस नहीं होनी चाहिए कि अब राज्य और धर्म साथ-साथ नहीं चल सकते और सिर्फ यूरोप-अमेरिका में नहीं, बल्कि सऊदी अरब और ईरान में भी धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र क्यों नहीं होना चाहिए?

इस्लाम का बचाव करने वालों का एक प्रिय तर्क यह भी है कि इसमें आई सारी कट्टरता अमेरिका की देन है। तालिबान, अल-कायदा और अब इस्लामिक स्टेट यानी आईएसआईएस अमेरिका ने बनाए और उनका इस्तेमाल करने के बाद उन्हें नष्ट करने के नाम पर वह दुनिया भर के मुसलमानों पर जुल्म ढा रहा है। सच है, लेकिन क्या मुस्लिम उम्मा में यह बहस नहीं चलनी चाहिए कि अमेरिका किसी दूसरे धर्म का ऐसा इस्तेमाल क्यों नहीं कर पाता? जब जरूरत पड़ती है, तब उसे इतनी आसानी से इतनी बड़ी संख्या में मुस्लिम लड़ाके कैसे मिल जाते हैं? इन लड़ाकों को प्रेरित करने के लिए अमेरिका के हाथ बिकाऊ उलमा कुरान की आयतों (पदावलियों) का ही इस्तेमाल करते हैं। निश्चित रूप से इस्लाम के अंदर ही वे तत्व निहित हैं, जो अमेरिका की मदद कर सकते हैं।

डोनाल्ड ट्रंप का आना मुसलमानों से अधिक अमेरिका के ईसाइयों के लिए अभिशाप है। उनकी उल-जुलूल हरकतें उस उदारता को नष्ट करेंगी, जो उनकी सबसे बड़ी शक्ति है। यही ईसाई समाज अफगानिस्तान पर हमले के समय बुश द्वारा एक ईसाई प्रतीक के इस्तेमाल के विरुद्ध सड़कों पर निकल आया था। इसी ईसाई समाज के न्यायाधीश, पत्रकार और सिविल सोसाइटी के लोग आज ट्रंप के पागलपन का खुलकर विरोध कर रहे हैं। नया शासन अमेरिका के बुनियादी मूल्यों के किस कदर खिलाफ है, इसकी एक बानगी हाल में तब मिली, जब सरकारी प्रेस ब्रीफिंग में ट्रंप के आलोचक पत्रकारों को आने से रोक दिया गया। ट्रंप की तुलना भारत के कट्टर हिंदुत्व से हो सकती है, जो उसी की तरह उदारता का विरोधी है, लेकिन भारत में भी उसके सामने बड़ी रुकावट बनकर उदार हिंदू खड़े है। इन उदार ईसाइयों और हिंदुओं का रास्ता तभी आसान होगा, जब मुस्लिम समाज में भी उदारता और धर्मनिरपेक्षता के पक्ष में बहस चले।

इस्लामी विद्वानों को इज्तिहाद का एक नया दौर शुरू करना चाहिए, जो दुनिया के दूसरे बड़े धर्म के अनुयायियों को विविधता का सम्मान करना सिखाए और उन्हें बहुधर्मी समाजों में रहने के लिए तैयार कर सके। यह भी स्पष्ट करना होगा कि धर्म और सत्ता का अलग होना मुस्लिम बहुल मुल्कों में भी उतना ही जरूरी है, जितना उन मुल्कों में, जहां मुसलमान अल्पसंख्यक हैं।

(ये लेखक के अपने विचार हैं), विभूति नारायण राय/ हिंदी साहित्यकार